॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

दशदिगन्तविजयी पण्डितपुरन्दर गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज विरचित

वेदान्ततात्पर्यनिरूपण

अनुवादक और प्रकाशकः—

शास्त्री हरिशङ्कर ओङ्कारजी

(मीमांसाशास्त्री, वेदान्तविशारदः M. R. A. S.)

श्रीसुबोधिनीग्रन्थमालाकार्यालय

नडीयाद और जामनगर.

संवत् १९८८ वि०

मूल्य चार आने

॥ श्रीकृष्णः ॥

यो वै भूमा तदमृतम्

विज्ञापनम् ।

संस्कृतविद्यानुरागिणो महानुभावाः !

सुविदितमिदं भवादृशां यत्साम्प्रतम्प्राचीनसंस्कृतनिबन्धानां कटुकीटपटलदंशनेन वा, निलयानलकीलकवलनेन वा, पाथसः पृषतपातेन वा विलोपः क्रमादवलोक्यते। क्वचन प्रकाशिता अपि ते मूल्यबाहुल्यात, यावदभिलषितकलावैकल्याच्च न सन्तोषमुपजनयन्ति मानसेषु प्रणयिनाम् । अनुपपत्तिसन्ततिमेतादृशीमनुसन्धाय विदूयमानमानसैः कृतिवरैरसकृदुत्साहिताः ख्यातवैदुष्याः श्री. हीरालालशास्त्रिणः श्री. हरिशङ्करशास्त्रिणश्च पुरोदीरितत्रुटिविघटनाय

"श्रीपीयूषपत्रिका"

समभिधानाया मासिकपत्रिकायाः सम्पादनभारं स्वीचक्रुः । महाभाग्यमिदं यत्सुरसरस्वतीं समुन्नेतुमिमे कार्यावरुद्धसमया अपि बद्धपरिकराः समभूवन् ।

अत्र ब्रह्मसूत्राणुभाष्यविवरणं, देवयाज्ञिकभाष्यसमेतं कातीयं श्रौतसूत्रं, महाकवि-मयूरविरचितं सूर्यशतकं च क्रमशः प्रकाश्यते । तथैव वर्षमध्ये सुरुचिरं विशेषाङ्कद्वयं चतुः-शतपृष्ठात्मकं प्रददाति ।

अथैवमपि पत्रिकायाः समुन्नतिस्तदा स्यात, यदि भवन्तस्तत्रानुग्राहकतया ग्राहकतया वा सहायतां सहर्षं दर्शयेरन् । अस्याश्च सकललोकसौलभ्यार्थं रूप्यकत्रयमेव वार्षिकं मूल्यम् । मञ्जुलतायां तु 'क्रिया केवलमुत्तरम्' इति नास्ति तस्यां विशेषतो वक्तव्यमिति ।

स्थानम्:-
श्रीपीयूषपत्रिकाकार्यालयः
नडीयाद, (गुजरात)

विदुषां वशंवदस्य
व्यवस्थापकस्य ।

पण्डितपुरन्दराः श्रीपुरुषोत्तममहाराजचरणाः।

नासीद्येन समः समस्तनिगमस्मृत्यादितत्त्वार्थवि-
द्वक्ता चाप्रतिमः सदस्सु विदुषामद्यापि भूमौ बुधः।
यः सर्वं नवलक्षपद्यकमितप्रौढप्रबन्धं व्यधा-
त्स श्रीमान्पुरुषोत्तमो विजयतामाचार्यचूडामणिः॥१॥

(श्रीवसन्तरामशास्त्रिणां कृपया) (श्रीनन्दकिशोरशास्त्रिणः)

સરેયા આર્ટ પ્રિ. અમદાવાદ.

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमद्वल्लभाधीश्वराय नमः ॥

प्रहस्तवादान्तर्गत

वेदान्ततात्पर्यनिरूपण

(अनुवादक–श्री हरिशङ्करशास्त्री, मी. शा., वे. वि., M. R. A. S.)

अभवदतिरसालं जिह्मविद्युज्जटालं प्रलयजलधिजालं यत्कृपालङ्कृतेषु ।
शिशिरमुखमयूखैर्भक्तसन्तापहालं स विभुरखिलकालं मद्दृशां गोचरोऽस्तु ॥

*श्रुतिशिरसि यस्य महिमा निरुपधिरीशोऽपि यस्य खलु महिमा ।
तं कृष्णमादिमूर्तिं नमामि निरवद्यसद्गुणं ब्रह्म ॥ २ ॥

जिसकी महिमा–श्लाघा–श्रुतिमूर्धन्यवेदान्त–उपनिषदोंमें हैं, जो उपाधिरहित है, जिसकी विभूति ईश–परशिव भी है, जिसके निर्मायिक (सृष्टृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, दीनबन्धुत्व, पतितपावनत्वादि) सद्गुण हैं; उस सच्चिदानन्द परब्रह्म आदि मूर्ति श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ।

उपक्रम ।

श्रीमद्भगवद्वदनवैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु पूज्यपाद प्रणीत तत्त्वार्थदीप निबन्धमें सच्चिदानन्द परब्रह्म [1]श्रीकृष्णको आदिमूर्ति कहा है, यही स्वरूप ब्रह्मसूत्रोंके भाष्यमें भी सिद्ध किया है । अर्थात् निबन्ध और अणुभाष्योक्त आदिमूर्ति उपाधिरहित एवं निर्मायिक सच्चिदानन्दपरब्रह्म श्रीकृष्ण, जो कि जगत्का कारण है, उसको मैं प्रणाम करता हूँ ।

---

*प्रहस्तवाद में अवान्तर तीन वाद है, वेदान्ततात्पर्यनिरूपण, भ्रान्तशैव-राकरण और मूलस्वरूपनिर्धार । इन तीन वादों को तीन चरणोंमें बताया है ।

१ आदिमूर्तिः कृष्ण एव सेव्यः सायुज्यकाम्यया । (तत्त्वदीपनिबन्ध)

वाह ! यही खूब ! सोपाधिक ब्रह्मको वेदान्तोमें प्रसिद्ध किया गया है, और आप उसकी महिमाको उपाधिरहित कहते हैं। ब्रह्मकी महिमा निरुपाधि है, यह किस प्रकार जान लिया ?

सुनिये-भगवान् वेदव्यासने चतुर्लक्षण ब्रह्मसूत्रोंमें प्रथमाध्यायसे सब वेदान्तवाक्योंका समन्वय और द्वितीयाध्यायसे अविरोध प्रतिपादन किया है। सब वेदान्तवाक्य परस्परमें अविरोधी होकर ब्रह्मपरक हैं। अर्थात् सब वेदान्तवाक्योंके द्वारा ब्रह्म कारण रूप है, आन्तर है, भोक्ता है, अन्तर्यामी है इत्यादि प्रकारसे वह अनेकविध महिमायुक्त है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म नानारूप है, वह नानारूप किस प्रकार है, वे नानारूप कैसे हैं इत्यादि निर्णय भी तत्तत्स्थलों में किया हैं, अर्थात् यावत् वेदान्तवाक्य अनन्तरूप ब्रह्मकी महिमाका निरूपण करते हैं, अतएव वे सब वाक्य ब्रह्मपरक हैं, यह बात तो निर्विवाद सिद्ध ही है।

क्या ब्रह्म जगत्का कारण है ?

ब्रह्म जगत्का कारण है, यह विचार व्यासजीने अपने सूत्रोंमें सबसे पहिले अर्थात् प्रथमाध्याय प्रथमपादका प्रारम्भकर दूसरे ही अधिकारण में किया है। "जिससे[1] जन्म आदि होते हैं वह ब्रह्म है, क्यों कि शास्त्र अर्थात् वेदमें उसे कारण कहा है" यहां "जिस से[2] यह सब भूत (पंचमहाभूत) उत्पन्न होते हैं" इस तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्य को लेकर विचार किया गया है। प्रश्न होता है कि ब्रह्ममें कर्तृत्व है या अकर्तृत्व ? क्योंकि "सत्य,[3] ज्ञानरूप और अनन्त—ब्रह्म है" इस ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादक श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मको जगत्के प्रति कर्ता नहीं माना है। आगे चलकर जहां कहीं व्याख्यान करते समय कर्तृत्व कहा गया है, वहां अन्यगत कर्तृत्वका आरोप करनेसे भी पूर्वापरवाक्योंकी सङ्गति लगजाती है, अतः स्वरूपप्रतिपादक वाक्यके उपजीवक कार्यप्रतिपादकवाक्यमें भी आरोप ही मानना उचित है, इसलिये ब्रह्म कर्ता नहीं है ऐसा ही क्यों नही मानते ?

---

१ जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् १।१।२॥ (श्रीवल्लभाचार्यजीने योग विभागका निषेध किया है) २ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

३ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

इस ब्रह्मको जगत्के प्रति कर्ता क्यों मानते हैं, वह भी सुनिये। "जिससे यह भूत (पंचमहाभूतात्मकप्रपञ्च) उत्पन्न होते है" इस तैत्तिरीय उपनिषद्के वाक्यमें "यह" इस दर्शक सर्वनामसे प्रपञ्चको बताकर उसका जन्मादि कहा है, अथवा यों कहिये कि, इस वाक्यका विवरण करते समय "उस[1] परमात्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ" इस में आद्य अर्थात् आकाश का जन्म कहा है। इस से सिद्ध होता है कि शास्त्र-वेद-पूर्वकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड-के सृष्टिवाक्योंमें कारणरूप ब्रह्म-को ही कहा है। कार्यप्रतिपादकवाक्योंके स्वरूपप्रतिपादक वाक्यों पर निर्भय रहनेके कारण स्वरूपप्रतिपादक वाक्यशेष[2]-उपसंहार-में ब्रह्म कर्ता नहीं है ऐसा निषेध देखने में नहीं आता है, प्रत्युत ब्रह्मको कारण कहा है, इस से "वह[3] स्थूल नहीं है अणु नहीं है" इत्यादि धर्म-निषेधवाक्यमें धर्मका निषेध होने पर भी ब्रह्म अलौकिक (विरुद्धधर्माश्रय) होनेसे तथा निषेधमें लौकिक रीतिक कर्तृत्वका निषेध होनेसे अलौकिक कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है। आपके मतके अनुसार लक्षणा करके ब्रह्म पर कर्तृत्वका आरोप जघन्य-गर्हित-होने के कारण श्रुतिसिद्ध कर्तृत्वका त्याग करना अनुचित है। अतः सबका आदिकारण ब्रह्म है यह सिद्ध हुआ। आनन्दमयाधिकरणमें ब्रह्मको आनन्दरूप कहा है, और वही अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयसे भी आन्तर आनन्दमय है।

सर्वान्तर ब्रह्म है।

"यह जो[4] आदित्यके बीच हिरण्मय पुरुष दिखाई देता है, वह हिरण्य —सुवर्णके श्मश्रु, सुवर्णकेश, नखशिखान्त सुवर्णमय है, जैसे कपिका आसन होता है, वैसे तथा पुण्डरीक—कमलके समान आरक्त उसके नेत्र है, वह उदय होता है, ऐसा जो जानता है वह सब पापों से मुक्त होता है" इत्यादि छान्दग्य उपनिषद्के वाक्योंमें श्रुति कहती है। यहां प्रश्न होता है कि क्या

---

१ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। २ यद्यपि शेषशब्द का अर्थ अंग होता, तथापि यहां उपसंहार ही योग्य है। ३ अस्थूलमनणु।

४ "य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आ-प्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एव सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदेति स वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद"।

उपर्युक्त छान्दोग्यश्रुतिमें जिस प्रकार कहा गया है वैसा ही वास्तविक–सूर्यमण्डलान्तर्गत जो पुरुष है वह अधिष्ठातृदेवताशरीर है वा ब्रह्मशरीर ? उसमें विकारवाची हिरण्मयादि पदों से और देहधर्मों का कथन होने से, नेत्रवाला कहने से, वह शरीर जीव का ही है। यदि कहो कि अपहतपाप्मत्व–निष्पापपन-आदि धर्म कहे हैं, जीव में पूर्वदोष विद्यमान रहने से वह जीव शरीर नहीं है तो किसी प्रकार से ब्रह्मशरीर हो सकता है, क्यों कि ब्रह्मशरीर कर्म जन्य न होने के कारण अपहतपाप्म–निष्पाप हो सकता है। शरीर का स्वीकार करनेपर इन्द्रियों का भी–स्वीकार हो जाता है, दृष्टान्त में आरक्त वर्ण का परिग्रहण होने से वर्णमात्र का परिग्रहण कर लेंगे, तब किसी प्रकारका दोष न रहेगा। ऐसा पूर्वपक्ष यदि किया जाय, तो उसका प्रत्युत्तर इस प्रकार है—

आदित्यान्तर्गत जो पुरुष दृश्यमान है, वह परमात्मा ही है, क्योंकि श्रुतिमें उदय होना आदि ब्रह्म धर्मोंका उपदेश है, तात्पर्य यह कि–कारण ब्रह्म है, कार्य जगत् है; उसमें जिस तरह कार्यके असाधारण धर्म कारणमें नहीं जाते, उसी तरह कारणके असाधारण धर्म भी–कार्यमें नहीं जाते। लोकव्यवहारमें भी–देखा जाता है कि घट कार्य है और मृत्पिण्ड कारण। घटके असाधारण धर्म जलाहरणादि मृत्पिण्डमें नही है और न मृत्पिण्ड के असाधारणधर्म घट में। यदि कार्यके असाधारण धर्म मृत्पिण्ड में और मृत्पिण्डके असाधारणधर्म घटमें चले जांय तो फिर कार्य और कारण की विलक्षणता क्या होगी ? कार्य और कारणमें (परस्पर) किसी प्रकारकी विलक्षणता न रहने पर कार्यकारणरूप व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। अतः इस नियमको मानना पडेगा कि कार्यके असाधारण धर्म कारणमें नहीं होते हैं और न कारणके असाधारणधर्म कार्य में रहते हैं। प्रस्तुत वाक्यमें भी–"उसका उदय होता है," कहनेसे "वह सब पापोंसे उदित होता है" इत्यादि प्रकारसे वर्णन होनेके कारण वह अपहत-पाप्मा है, यह सिद्ध हुआ। साथ ही मूल छान्दोग्य श्रुतिमें 'आदि' पद होने से वह अक्षिपुरुषका वर्णन करनेवाली ऋचा है, वह साम है, वह यजुष् है, वह ब्रह्म है। इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी ब्रह्मके असाधारण धर्म कहे हैं, वह ब्रह्म ही है ऐसा ज्ञात होता है। व्यासजी ने "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" १।१।१८॥ सूत्रमें 'अन्तः' पदका प्रयोग किया है, इससे यह भी ज्ञात होता

है कि स्थानान्तरमें भी—जहां जहां ब्रह्मके धर्मोंका वर्णन किया गया है वहां भी ब्रह्म ही अर्थ करना चाहिये न कि जीव वा जड। आप यह शङ्का नहीं कर सकेंगे, कि केश नखादि कार्यधर्मोंका वर्णन है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। कारणधर्म उपजीव्य और नित्य होनेके कारण बलिष्ठ है। अपहतपाप्मा आदि ब्रह्मधर्मका प्रकृत में उपदेश होनेके कारण वह ब्रह्म ही है।

हिरण्मय शब्दका अर्थ हिरण्यका विकार नहीं है। पाणिनीयसूत्र द्व्यचश्छन्दसि (४।३।१५०) के अनुसार जहां दो स्वर न हो वहां वेदमें विकारार्थक मयट् प्रत्यय होता नहीं है। केशादि नाम मात्रसे तुल्य हैं, न कि वस्तुतः। "[1]अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है" इस श्रुतिवाक्य से सिद्ध है कि परिच्छेद भी ब्रह्मधर्म ही है। चाक्षुषत्वादि भगवदिच्छा से है, न कि इन्द्रियसामर्थ्यसे। श्रुतिमें भी कहा है "[2]वह ब्रह्म अपने शरीरका स्वयं विस्तार करता है" इत्यादि श्रुति वाक्योंसे यह स्पष्ट रूपसे समझमें आता है। अस्थूलादिवाक्योंमें स्थूलत्वादिका निषेध है न कि अलौकिक ब्रह्मधर्मोंका। अतः वह ब्रह्म सर्वान्तर ही है।

भोक्ता कौन है ?

कठवल्लीमें विचार किया गया है कि "[3]ब्रह्मक्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय जोकि धर्मके आधारभूत वर्ण हैं) जिसका ओदन—भात (भोज्य पदार्थ) है और मृत्यु जिसका उपसेचन अर्थात् चटनी (उपखाद्य) है वह आत्मा कहां है यह कौन जान सकता है।" इस श्रुतिमें ओदन और उपसेचन शब्दोंका प्रयोग है अर्थात् उनका कोई भोक्ता होना भी आवश्यक है, वह क्या अग्नि है, जीव है या परमात्मा है ?

"[4]अग्नि अन्नको खानेवाली है" इस वाक्यसे अग्नि भोक्ता हो सकता है। और "दो [5]पक्षी एक साथ मित्र बनकर एक ही वृक्ष पर स्थित हैं, उनमेंसे एक पिप्पल फलको खाता है और अन्य नहीं खाता है" इस वाक्यसे

---

१. अणोरणीयान् महतो महीयान्। २ स आत्मानं स्वयमकुरुत।

३ यस्य ब्रह्मक्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ ४ अग्निरन्नादः। ५ द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

जीव भोक्ता है। परमात्माके भोक्ता होनेमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। आप ईश्वरको भोक्ता भी कहते हैं उसमें प्रमाण क्या है?

अग्नी वा जीव भोक्ता नहीं है, परमात्मा भोक्ता हैं इस में आपने, कठवल्लीकी जिस श्रुतिका आश्रय लिया है वही प्रमाण है, क्योंकि उपर्युक्त श्रुतिवाक्यमें ब्रह्मक्षत्रको ओदन एवं मृत्युको उपसेचन कहा है। ब्रह्मक्षत्रका वध अवश्य है और चराचरका नाश करने वाले मृत्युका भोजन करजाना अग्नि वा जीव के लिये सर्वथा असंभव है। परमात्माको जहां "भोक्ता नहीं है" ऐसा कहा है उसका अर्थ होता है कि कर्मफल को वह नहीं भोगता है, क्योंकि वहां कर्मफलका ही प्रकरण प्रस्तुत है। परमात्मा "कर्मफलका भोक्ता नहीं है" कह देने से सम्पूर्ण विकारों का संहार नहीं करता ऐसा निषेध नहीं कर सकते। क्योंकि सृष्टि, स्थिति और संहार ये ब्रह्मके धर्म हैं, अतएव वह भोक्ता है।

अन्तर्यामी ईश्वर है।

व्याससूत्रके प्रथमाध्याय द्वितीयपद षष्ठ अधिकरणमें विचार उपस्थित होता है कि बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है कि "[1]जो इस लोक और परलोक एवं सर्व भूतमात्रके अन्तर्में रहता है तथा इनका नियमन करता है" "[2]जो पृथिवीपर, पृथिवी के अन्तर-मध्यमें है, जिसको पृथिवी नहीं जानती है, जिसका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवीके अन्तर रहनेवाला नियमन करता है, यह तेरा अन्तर्यामी आत्मा है-जो कि अमृत कहा जाता है।" यहां शङ्का होती है कि अधिदैवादि में जो अन्तर्यामी है वह क्या पृथिव्याद्यभिमानिनी देवता है, अणिमादि ऐश्वर्यवान् जीव है वा परमात्मा है? अन्तर्यामि शब्दका अर्थ होता है-जो भीतरसे नियमन करता हो वह, यह अर्थ पृथिव्याद्यभिमानिनी देवताका प्रकाशक है अथवा योगके द्वारा जिसको सिद्धि प्राप्त हो गई है उस जीवका प्रकाशक हो सकता है, न कि परमात्माका। क्यों कि परमात्माके विषयमें यह संज्ञा अप्रसिद्ध है। अतः परमात्मा अन्तर्यामी नहीं हो सकेगा।

---

१ य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति।

२ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त अन्तर्याम्यमृतः।

परमात्मा ही अन्तर्यामी है, क्यों कि सर्वनियमन आदि धर्म उसमें ही पाये जाते हैं। अन्यत्र सर्व नियमन शक्ति नहीं है। साथ ही आत्मापन और अमरपन भी उसीमें मुख्यतया सिद्ध है। जडमें ज्ञानका अभाव है यह प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है। अतः "पृथिवी जिसको नहीं जानती" इस वाक्यसे तदभिमानिनी देवता, जो कि चेतन है, उसमें ज्ञानका अभाव सिद्ध होता है। जीवमें भी नियमनशक्ति नहीं है। अतः अन्तर्यामी परमात्मा ही है।

जिस तरह परमात्मा–कारण, सर्वान्तर, भोक्ता एवं अन्तर्यामी है उसी तरह वह अदृश्यत्व, सर्वप्रसिद्धत्व, व्यापकत्व, सर्वात्मत्व, सर्वाधारकत्व आदि सद्गुणोंसे युक्त है।

अतएव इन सद्गुणों से उसकी महिमा माहात्म्य–उत्कर्ष वास्तविक ही है, वह वास्तविक महिमा ब्रह्ममें–जिसमें कि वह रहता हुआ निरतिशय श्रेष्ठत्वका पर्यवसान करता है अर्थात् यह महामहीम ही परब्रह्म है। यदि इस महिमाका पर्यवसान उपाधिमें किया जाय, तो उत्कर्ष प्रतिपादक वाक्योंके ब्रह्मपरक होनेमें वह प्रतिबन्धक सिद्ध होगा।

[1]वह प्रतिबन्धक नहीं होगा। वाक्यार्थका ज्ञान तात्पर्यसे होता है, तात्पर्यका लक्षण "[2]उसकी प्रतीतिकी इच्छासे उच्चरित वाक्य" है। तदनुसार यहां भी कह सकते हैं, कि ब्रह्मकी प्रतीति की इच्छासे उच्चरित पूर्वोक्त महिमा वाक्योंका ब्रह्मपर अर्थ करनेसे उपाधिके द्वारा उसकी प्रतीतिमें प्रतिबन्धक नहीं है। अर्थात् आप जो यह कहते हैं कि महिमा बोधक वाक्योंसे वास्तविक महिमा न मानकर यदि उनका उपाधि में पर्यसान किया जायगा तो वे वाक्य ब्रह्मपर होनेमें स्वयं ही प्रतिबन्धक होंगे, सो ठीक नहीं है, हम यहां तात्पर्यसे यह मान लेंगे कि ब्रह्मप्रतीतिकी इच्छासे उच्चरित वाक्य ब्रह्मपर होनेसे उपाधिके द्वारा उसकी प्रतीतिमें प्रतिबन्धक नहीं है।

---

१ पूर्वपक्षी उपाधिका समर्थन करता है।

२ यद्यपि "तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम्" इस लक्षणका खण्डन वेदान्तपरिभाषामें करके "तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वम्" ऐसा लक्षण किया है, और पीछेसे उसमें "तदितरप्रतीतीच्छयाऽनुच्चारितत्वम्" इस विशेषणका निवेश किया है। तथापि वह गुरुतर लक्षण होनेके कारण पूर्वलक्षणको ही मानकर मायावादी उपाधिका समर्थन करता है।

आप यह भी नहीं कह सकेंगे कि इसमें कोई ज्ञापक प्रमाण नहीं है। क्यों कि उसमें "[1]जहाँ से वाणी पीछे हटती है" इत्यादि श्रुतिके अनुसार वाणीकी निवृत्तिके बोधक वाक्य ही प्रमाण हैं। उपनिषद्की श्रुतिका भी विरोध नहीं है, क्यों की तात्पर्यसे भी उपाधिकी सम्भावना है ही। अभिधावृत्तिकी अपेक्षा तात्पर्यवृत्ति बलिष्ठ है।

यद्यपि तात्पर्य बलिष्ठ है, तथापि वास्तविक महिमाके प्रतिपादनके द्वारा ब्रह्मपर ही मानना श्रेष्ठ है, क्यों कि बहुत सो श्रुतियां महिमाका वर्णन करती हैं। परन्तु अनेक सावकाश श्रुतियोंका अनुग्रह प्राप्त करनेकी अपेक्षा एक निरवकाश श्रुतिका अनुग्रह प्राप्तकरना अधिक श्रेष्ठ है। अतएव "[2]सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म है" इस वाक्यमें सत्यका अर्थ आसन्यसे व्यावृत्त, ज्ञानका अर्थ जडसे व्यावृत्त और अनन्तका अर्थ सान्तसे व्यावृत्त ब्रह्म है ऐसा शङ्कराचार्यजीने भाष्यमें किया है। इसी प्रकार निषेधशेष ब्रह्मका स्वीकार करनेपर "[3]निष्कल, निष्क्रिय और शान्त ब्रह्म है" "[4]वह साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण है" "[5]उसका न कोई कार्य है न करण" "[6]वह स्थूल नहीं है" "[7]उसमें सब इन्द्रियोंके गुणका आभास होता है, वह सब इन्द्रियोंसे रहित है" "[8]वह अरूप है" इन समाधिभाषा, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, गीता, ब्रह्मसूत्रके वाक्यमें भी इसी अर्थका समर्थन करते हैं, वेदान्तवाक्य अवास्तविक ब्रह्मकी महिमाका प्रतिपादन करते हों, तो भी वे सब वाक्य ब्रह्मपर है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार मायावादीका पूर्वपक्ष होनेपर उपाधिका खण्डन करनेकेलिये सिद्धान्ती सगुणब्रह्मका प्रतिपादन करता है वह इस प्रकार हैः—

यह वेदान्त दर्शन वैदिक है, व्यासदर्शनका निर्णय भी श्रुतिसे ही करना उचित है, यदि युक्तियोंका आश्रय लिया जाय, तो वे युक्तियां भी श्रुतियोंसे विरुद्ध न हों, अर्थात् वेदविरुद्ध युक्तियोंका त्याग कर तदनुकूल

---

१ यतो वाचो निवर्तन्ते। २ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ३ निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्। ४ साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। ५ न तस्य कार्यं करणं च विद्यते। ६ अस्थूलमनणु। ७ सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। ८ अरूपवदेवहि०

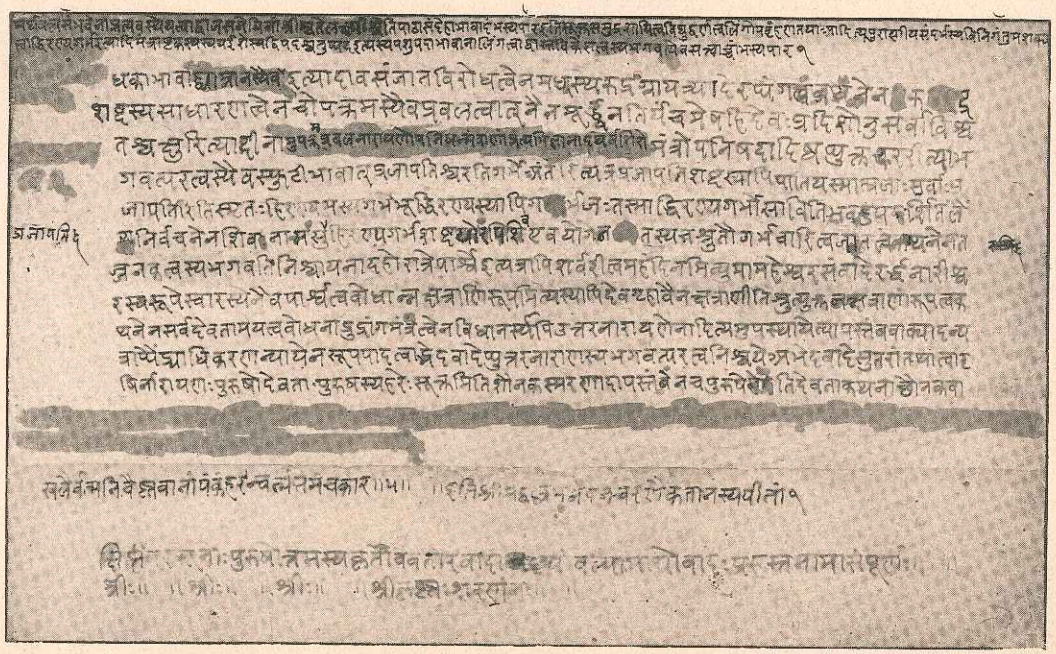

पण्डितपुरन्दराणां श्रीमत्पुरुषोत्तमानां हस्ताक्षराणि

(श्रीवसन्तरामशास्त्रिणां कृपया)

સરૈયા આર્ટ પ્રિ. અમદાવાદ.

युक्तियोंसे एवं श्रुतिवाक्योंसे ही निर्णय करना उचित है। श्रुतिप्रतिपादित प्रमेयका निर्णय भी वेदमार्ग एवं व्यासजीके मतानुसार ही करना चाहिये, न कि कुतर्कसे।

अतएव आपका उपाधिपक्ष तभी सिद्ध हो सकेगा जब कि श्रुतियोंसे उसका समर्थन किया जाय, और वैसा होना ही असम्भव है। आपने अपने उपाधिपक्षके समर्थनमें जिस श्रुतिवाक्यका आश्रय लेकर यह कहाथा कि "[1]जहांसे वाणी निवृत्त होती है" अर्थात् वाणीके द्वारा जो अप्राप्य है; उसका अर्थ लौकिक वाणीसे अप्राप्य है ऐसा होता है, न कि वाणी मात्रसे। क्यों कि उसके साथ ही मनको भी जोड दिया है। वह पूरा वाक्य इसप्रकार है— "[1]जहांसे वाणी उसको प्राप्त न करके मनके साथ निवृत्त होती (लौट आती) है, इस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला कभी (कहींसे भी) डरता नहीं है।

उक्त श्रुतिमें वाणीके साथ मनभी है, अतएव वह लौकिक वाणीकी बात है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। वैदिकवाणी उसको प्राप्त कर सकती है। वेद अपौरुषेय है, ईश्वरके निश्वासरूप है अतः उस वाणीके साथ मनका रहना सम्भव नहीं है। "[2]वाणीसे अनृत (मिथ्या) बोलता है" "[3]मनसे मिथ्या ध्यान करता है" इत्यादि वेदवाक्योंमें लौकिक वाणी एवं मनका वर्णन है। साथ ही "[4]जब[5]यह साधक इस अदृश्य, अशरीर, अविशेष, अनिलयन (जो किसी अन्यपर निर्भर न हो) परब्रह्ममें निर्भय होकर आत्मभावको प्राप्त करता है, तब उसने अभय प्राप्त किया (वह अभय तक पहुंच सका)।" इत्यादि तैत्तिरीयश्रुतिका भी विरोध होगा। क्योंकि उक्त श्रुतिमें ब्रह्मको अविशेष (आनसक्त) कहा है। जो "यह इस प्रकार है" इत्यादि शब्दोंसे प्रतिपादित होता है वह निरुक्त वा सविशेष है, उससे भिन्न अनिरुक्त—अविशेष है। "वह (ब्रह्म) अनिरुक्त है" यह वाक्य भी वाणीका विषय है, और इसी वाक्यसे उसका (ब्रह्मका) बोध हो सकता है, तब यह किस प्रकार माना जाय, कि पूर्वोक्त श्रुतिके अनुसार वाणीकी निवृत्ति होनेसे ब्रह्म वाणीका विषय नहीं है? अत

---

१ यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।

३ अनृतं वै वाचा वदति। ४ अनृतं मनसा ध्यायति। ५ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये अनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते, अथ सोऽभयंगतो भवति।

एव आपको भी मानना होगा, कि वहां वैदिक वाणीका निषेध नहीं है, लौकिक वाणीकी निवृत्ति ही उक्त श्रुतिका अर्थ है। लौकिक वाणी ब्रह्मको प्राप्त न करके ही लौट आती है और वैदिक वाणी अपनी शक्तिके अनुसार उसका वर्णन करती है। इस प्रकार ही अर्थ करनेसे उक्त उपनिषद् वाक्यकी सङ्गति बैठ सकती है, न कि आपके कथनानुसार। आपके कथनके अनुसार तो कारणत्वबोधक और उपासनाबोधक वाक्योंका अर्थ उपाधि, आरोपापवाद आदि माननेसे निर्विशेष ब्रह्मका ज्ञान ही न होगा। पूर्वोक्त दोनों श्रुतियों(यतो वाचो और अनिरुक्तश्रुति)में विवाद उपस्थित होजानेसे, उस विवादको दूर करनेका आपके पास दूसरा कोई साधन न होनेसे, तथा जब तक दोनोंकी एक वाक्यता न हो तबतक उनके अर्थका भी निश्चय न हो सकनेसे साथ ही उनके द्वारा अन्य श्रुतियोंका भी तात्पर्य ज्ञान होना अशक्य हो जायगा। यदि आप कहेंगे कि वाक्यमें 'शक्ति' न होनेसे हम 'लक्षणा' करेंगे, तब लक्षणा करनेसे दोनोंमें तुल्यता आजावेगी, वह भी ठीक नहीं है, वैसा करनेसे वृत्तिमें द्विगुणता आजाती है, अर्थात् वाक्यमें और पदमें उभयत्र शक्ति माननेकी आपत्ति उपस्थित होती है। यदि आप कहेंगे कि सब वैदिक पदोंको ब्रह्मवाचक नहीं मानेंगे। हम आगे चलकर अथर्वशिखाका उपपादन करेंगे, वहां सब वैदिक शब्दोंकी ब्रह्ममें शक्ति है, ऐसा सिद्ध किया है। साथ ही वाक्यमें शक्ति है ऐसा वैयाकरणोंका सिद्धान्त है। वृत्ति द्वैगुण्यसे आगे चलकर बतावेंगे उस प्रकार विरुद्धधर्माश्रय माननेसे लक्षणासे पिण्ड छूट जायगा, साथ ही श्रुतियों भी विरोध न रहेगा। अतएव "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियोंमें लक्षणा मानना प्रमाणाभावसे अनुपपन्न ही है ×।

यदि लक्षणाका स्वीकार न किया जाय तो "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस श्रुतिमें ब्रह्मको अद्वितीय कहा है, वह सिद्ध न होगा ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। क्योंकि ब्रह्मधर्म भी ब्रह्मसे अभिन्न ही है। जैसे "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वा-

---

×यहां मूलमें लक्ष्यत्व, वाच्यत्व, लक्षणा, केवलान्वयी, अन्वयव्यतिरेकी, उपाधि आदि का विचार किया गया है, यह तार्किक विचार सर्वसाधारण को समझाने में कठनाई होगी, इस विषयकी सरल व्याख्या करके समझाने में बहुत विस्तार करना पडेगा, साथ ही यह अत्यन्त रुक्ष विषय होने के कारण पाठकोंको नीरस जंचेगा, अतः यहां पूर्वपक्षका सिद्धान्ती के मतानुसार निरास मात्र किया गया है।

त्" इस सूत्रमें व्यासजीने दिखाया है, कि जिसप्रकार सूर्य और प्रकाश ये भिन्न भिन्न नहीं है, उसी तरह ब्रह्म और ब्रह्मके धर्म (अद्वितीयत्वादि) भिन्न भिन्न नहीं हैं। दोनोंको एक माननेसे धर्मभावकी हानी भी न होगी। अतएव आपका उपाधिपक्ष सर्वथा *असङ्गत है।

खैर, न हो उपाधिपक्ष, हम प्रकारान्तरसे उसको दृढ करेंगे। ब्रह्मकी महिमाका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त वाक्योंको ब्रह्मके स्वरूपकी अपेक्षा रहती है, अतः वे उपजीवक होनेके कारण बहिरङ्ग हैं। और ब्रह्मका स्वरूपप्रतिपादन करनेवाले वाक्य उपजीव्य होनेसे अन्तरङ्ग हैं। जिस प्रकार पूर्वमीमांसामें उत्पत्ति वाक्यका बाध अन्य वाक्य नहीं कर सकते, पर आवश्यकता पडनेपर उत्पत्ति वाक्य ही अन्य वाक्योंका बाध करता हैं, उसी प्रकार यहां भी स्वरूपपरक निर्विशेष वाक्योंके द्वारा धर्म, आकारादिबोधक वाक्योंका बाध हो जायगा और जब उनका बाध होगया तब वे उपाधिपक्षमें पर्यवसित हो जाँयगे।

सुनिये, हम आपके इस पक्षका भी उत्तर देते हैं—यदि आपके कहने के अनुसार महिमाको निरूपण करनेवाले वाक्य केवल उसीका निरूपण करके रहजाँय और स्वरूपके विषय में कुछ भी न बोलते हों, तब तो आप कहते हैं वैसा मान भी लिया जाय, पर ऐसा नहीं है; किन्तु जिस तरह "अस्थूलं" आदि वाक्य धर्मनिषेध के द्वारा स्वरूपका भी निरूपण करते हैं, उसी तरह "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादि वाक्य धर्मविधि के द्वारा स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, तब आप पूर्वोक्त न्यायसे उपाधिपक्षका किसी भी प्रकारसे समर्थन नहीं कर सकते।

किसी का मत है कि—"अस्थूलं" इत्यादि वाक्य में निषेधार्थक "नञ्" का अन्वय क्रिया के साथ न होने के कारण यहां "प्रतिषेध" न होकर पर्युदास ही होगा। अतः सादृश्य अर्थ युक्त है। "ब्रह्म हाथी के समान बडा और मच्छर के समान छोटा है" इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें भी सादृश्य ही कहा है। तब आप व्यर्थ ही श्रुतियों के विरोधाभाव की चिन्ता करते हैं। श्रुतियों में विरोध ही नहीं है, फिर विरोधाभाव स्थापन करने की क्या आवश्यकता है?

भिक्षुका मत है कि—यहां पर्युदास शक्यवचन नहीं है, क्योंकि "असङ्गम्" इत्यादि में अन्वय नहीं है, साथ ही "अचक्षुष्कम्" यहां 'क'

* उपाधिपक्ष मानने से शतावधि श्रुतिवाक्य और व्याससूत्रोंका ठीक ठीक अर्थ नहीं हो सकेगा।

प्रत्ययमें विरोध भी हो जाता है। अतः जहां जैसा सम्भव हो वहां वैसा प्रतिषेध वा पर्युदास स्वीकार कर लेना उचित है।

परन्तु यह मत ठीक नहीं है। क्योंकि "असङ्गम्" इत्यादि श्रुतिका "सङ्गभिन्न" वा "सङ्गसदृश" ऐसा अर्थ करने पर स्वरूप सम्बन्ध तो रहेगा, इससे तद्रूपताका बोधहो जायगा, तब अन्वय अनुपपन्न न होगा, और "अचक्षुष्कम्" इत्यादिमें 'क' प्रत्यय स्वार्थमें होनेसे वह पर्युदासका बोध नहीं करेगा। किन्तु "यह, देव, असुर, मनुष्य, पक्षी, स्त्री, षण्ढ, पुरुष, जन्तु, गुण, कर्म, सत्, असत् नहीं है; ऐसा निषेध के साथ रहनेवाला अशेष—पूर्णब्रह्मका जय हो।" इत्यादि पुराण वाक्योंमें पूर्वोक्त श्रुतियोंका ही विस्तार वा व्याख्यान होनेसे निषेधके साथ कहनेसे उसीके अनुसार यहां भी प्रसज्य प्रतिषेधका सम्भव होनेके कारण जो विरोधाभावके विषयमें विचार करते हैं वह युक्त ही है।

अच्छा, तो आप जब प्रसज्यप्रतिषेध का स्वीकार ही करते हैं, तो हम कहेंगे कि–अणुत्वादि का निषेध होने से यहां केवल जड, जीव के धर्म मात्रका ही निषेध नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ। धर्ममात्रका निषेध स्वीकार न करने पर श्रुति में विरोध होगा और आपको वह विरोध, धर्म विरोध ही मानना पडेगा, तब वह धर्म विरोध अपने आश्रयका भेद करेगा अर्थात् धर्मोंका आश्रय ब्रह्म है वह धर्म के निषेधसे स्वयं निर्धर्मक होगा, उस समय धर्मका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों के द्वारा उपाधिका ही स्वीकार करना पडेगा। अतः विना उपाधिके गत्यन्तर नहीं है।

नहीं, उपाधिका स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि ब्रह्म एकमात्र वेद से ही समधिगम्य—भली प्रकार जाना जाता है। वेदमें कहा है कि "वह कम्पायमान होता है, कम्पायमान नहीं होता" "वह दूर है, वह पास है" "बैठा हुआ दूर जाता है" "सोता हुआ सब जगह जाता है" "महीनसे भी महीन और बडेसे बडा है" "विना आँखवाला, विना कानवाला" "संसारभरमें आँखवाला" इत्यादि एकही ब्रह्मके परस्पर विरुद्ध नाना प्रकारके धर्मबताये गये हैं। अतः उस(ब्रह्म)को वैसा ही मानना उचित है। सूत्रमें व्यासजीने स्रष्टृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व आदि धर्म प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका परस्पर विरोध नहीं है ऐसा सिद्ध किया है। ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय है अतः श्रुतियोंमें विरोधका अभाव हैं।

उपाधिमें दोष

अब हम आपसे ही पूछते हैं कि, आप अविद्याको ब्रह्मोपाधि मानते हैं, वह क्या सादि है वा अनादि? उपाधि सादि नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मतमें उपहितको ईश्वर माना है, तब ईश्वर भी सादि हो जायगा। आपकोभी ईश्वरके सादि होजाने से साङ्ख्यवादियों की तरह कार्येश्वरवाद को मानना पडेगा। यदि कार्येश्वरवाद को मानेंगे तो वेदान्तसिद्धान्तका भङ्ग हो जायगा।

यदि अनादि मानेंगे तो "जो अनादि है वह अनन्त अवश्य होना चाहिये" ऐसा नियम होने के कारण उपाधि से छुट्टी नहीं होगी तब जीवोंकी अपेक्षा भी ब्रह्म जघन्य हो जायगा। क्यों कि जीवोंका मोक्ष है पर ब्रह्म उपाधि में फँसा ही रह जाता है।

यदि अनादिसान्त कहेंगे तो—उस पक्षमें भी ब्रह्म सर्वज्ञ है यह मानना पडेगा और वह ब्रह्म हिरण्यगर्भादिका गुरु एवं सब वेदों को जाननेवाला होनेसे और उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट—अधिक—के न होनेसे तथा "ईश्वर अपरोक्ष है ऐसा माननेवालेके पक्षमें ब्रह्मसाक्षात्कार आवश्यक होनेके कारण उसकी मुक्ति होने पर प्रपञ्चका भी भङ्ग हो जायगा। अथवा एककी मुक्तिके अभावमें अन्यको अपरोक्षज्ञान न होगा। साथ ही ईश्वर में भी जघन्यत्व दोष उपस्थित हो जायगा। और ऐसा मानने से पूर्वसूत्रोक्त हेतुविरोध उसी प्रकार उपस्थित रहेगा।

अविद्याका स्थान कहां है?

और वह अविद्या क्या जीवमें रहती है वा ईश्वर में? जिसमें आप विशेषकी कल्पना करते हैं। पहिला पक्ष ठीक नही है क्यों कि अविद्यामें ब्रह्मगतधर्मकी कल्पना करनेकी सामर्थ्यका अभाव है। जब कि शुद्धब्रह्म मन, वाणी का विषय नहीं है, तब जीवका अधिष्ठान, ज्ञान के अभाव होनेमें सम्बन्ध अशक्यवचन होनेपर सम्बन्धका अभाव होनेसे कल्पना असम्भव होती है। यदि आप कहेंगे कि ज्ञानी ब्रह्मको देखनेवाले होते हैं, वे ही अविद्या के कल्पक हैं, सोभी ठीक नहीं है। कहा है कि "गुणका अपाय—नाश—होनेपर मुनिगण जिसको देखते है" इस से सिद्ध होता है कि देखने वालोंमें अविद्या नहीं रहती। ज्ञानी होनेपर वह नष्ट न होवे तो फिर उसका नाश ही न होगा; तब अनिर्मोक्ष प्रसङ्गकी आपत्ति होगी। अविद्यासे ब्रह्ममें विशेषकल्पना करनेसे

दृश्यत्व प्राप्त होता है, दृश्यत्व प्राप्त होनेसे अधिष्ठानका ज्ञान होगा, तब उसकी कल्पना होगी । इस प्रकार अन्योन्याश्रय होने से उसका (अविद्याका) कल्पक होना असम्भव है । यदि आप कहेंगे कि हम विशेषके विना ही ब्रह्म-दर्शनका स्वीकार करते हैं, तब दृश्यत्व धर्म ब्रह्म में रहने के कारण आपका निर्विशेष सिद्धान्त ही नष्ट हो जायगा । यदि ब्रह्मदर्शनका स्वीकार नहीं करेंगे तब "ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही होजाता है" इत्यादि श्रुतिका व्याकोप होगा ।

इस प्रकार जीवगत अविद्या ब्रह्मगत विशेष कल्पिका है, ऐसे मायावादि-योंके पक्षका निरास करके, अब ब्रह्मगत अविद्या ही ब्रह्मगत विशेषकल्पिका है, ऐसे द्वितीयपक्षका खण्डन करते हैं । द्वितीयपक्षका पहिले ही खण्डन किया है, कि अनादिअनन्त माया–अविद्या है, इस पक्षको मानने से निर्मोक्षण निर्वि-शेष ही असिद्ध हो जाता है, तब सविशेष निर्विशेष आदि विभाग ही असङ्गत हो जाते हैं । अनादिसान्त माननेसे अविद्याके नाशकी निरुक्ति ही नहीं हो सकती । ईश्वरका ज्ञान नित्य और एक होनेकेकारण उसमें पहिला और पिछला इत्यादि भाव बताना अशक्य होनेसे यदि अनादिको सान्त अर्थात् नाशवान मननेसे प्रपञ्चके अभावकी–प्रसक्ति होगी । अतः नाश न होनेपर सान्तत्व प[illegible] भी–उसीसे असम्भव होता है । वस्तुतः जीवगत अविद्याकल्पित ही मायाव[illegible] दियोंके मत में ईश्वरका बिम्ब माना गया है । सबकी मुक्ति होनेपर सर्वांश[illegible] में अविद्याका नाश हो जाता है, तब बिम्बत्वकी निवृत्ति होनेसे शुद्ध चैतन्य-रूपसे स्थिति ही उनका सिद्धान्त है । मायावादियोंका यह पक्ष तो जीवगत अविद्याके पक्षका खण्डन करते समय खण्डित हो चुका है ।

अविद्याका स्वरूप विचार.

अब अविद्याका स्वरूप विचार करके मायावादको दूषित करते है । क्या वह अविद्या सत् है, असत् है, सदसत् वा असदसद्विलक्षणा हैं ? प्रथमपक्ष (सत्पक्ष) ठीक नहीं है । अनादिमाननेसे उसको अनन्त भी मानना पडेगी और तब द्वैतापत्ति हो जानेसे निर्विशेष ब्रह्म सिद्ध नहीं हो सकेगा । अनादि-सान्त माननेसे पूर्वोक्तरीतिसे प्रपञ्चाभावकी प्रसक्ति हो जायगी । अतः उसको सत् मानना अनुचित है ।

द्वितीयपक्ष–अविद्याको असत् मानना यह भी उचीत नहीं है । क्योंकि

वैसा माननेसे गगनकुसुमके समान निर्विशेषत्व कल्पना अविद्यासे करना असम्भव हो जायगा।

तृतीयपक्ष (सदसत्) भी अनुचित है। वैसा माननेसे तो शुक्ति में रजतको माननेके समान अविद्या कल्पित ही कहनी पडेगी। और वैसी कल्पना करना ही असम्भव है। ब्रह्मके निर्विशेष होनेके कारण–ब्रह्मकी निर्विशेष अवस्था में जीव ही न होंगे, तब अविद्याके अनादि होनेसे पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है। यदि आप फिर से अनादिसान्तत्व पक्षका समर्थन करते हैं, तो वह भी असङ्गत है। क्योंकि जीवगत अविद्या और ब्रह्मगत अविद्या का विचार करते समय उसका उत्तर दे चुके हैं। अर्थात् प्रथम और चरम ज्ञान का नाश होजाने पर ब्रह्मगत पक्षमें प्रपञ्चाभावकी प्रसक्ति होनेपर दोष प्राप्त है। और जीवगतपक्षमें उपर्युक्त प्रकारसे अन्योन्याश्रय दोष होनेसे कल्पकत्व हो असम्भव है।

चौथा पक्ष (सदसद्विलक्षणा) भी अयोग्य है। वैसा माननेसे अविद्यासे ब्रह्मका अतिरेक न होगा। गीता में कहा है कि–"[1]ब्रह्म अनादिमत्, पर, तथा सदसद्विलक्षण है।" इस वाक्यसे पूर्वोक्त दोष भी उपस्थित ही हैं। अतः यह उपाधि पक्ष असङ्गत है। श्रुति में कहीं भी सविशेषब्रह्मका निरूपण करते समय उपाधिपक्ष कहा नहीं है। यदि आप "[2]इन्द्र मायाओं से पुरुरूप होता है।" इत्यादि वाक्य कहेंगे तो केवल इस वाक्यके बल पर आप उपाधिपक्षका समर्थन नहीं कर सकेंगे। यह वाक्य मधुब्राह्मण में है। उसमें मैत्रेयीब्राह्मणमें प्रतिपादित आत्माका पृथिव्यादिमें विद्यमान रहना, अमृतत्व, ब्रह्मका सर्वात्मक होना, आदि वर्णन उपक्रम में है। मध्यमें ब्रह्मका स्वरूप कहकर उपसंहार में "सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म यह आत्मा है। उपक्रम और उपसंहार में ब्रह्मकी सर्वरूपताका प्रतिपादन माया के विना ही किया है। मध्यमें मन्त्रका व्याख्यान करते समय भी हरि आदि रूप उसी आत्माके बताये हैं। ब्रह्मको सर्वानुभू अर्थात् सबका अनुभव करनेवाला कहा है, इसमें ब्रह्मका स्वरूप प्रतिपादन करते समय मायाका करणत्व स्वीकार नहीं किया है। यदि मायाको कारण माना होता तो पूर्वार्ध में ही "मायासे पुरुरूप हुआ" ऐसा भूतकालिक प्रयोग करके वैसाही व्याख्यान किया होता। इससे प्रतीत होता है कि उपाधिपक्ष असङ्गत है।

---

१ अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। २ इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

उपास्य ब्रह्म सोपाधिक नहीं है।

यदि "जो वाणीसे प्राप्त नहीं है किन्तु वाणी जिससे प्राप्त है वह ब्रह्म है ऐसा तू जान, जिसकी तू उपासना करता है वह वैसा नहीं है" इस प्रकारके तलवकार ब्राह्मणोक्त वाक्यों में उपास्यरूपको अब्रह्म कहा है इस से सिद्ध होता है कि आकार मायिक है, ऐसी शङ्का करेंगे, तो वह भी अनुपपन्न होगी। क्यों कि उस वाक्यका जैसा आप अर्थ करते हैं वैसा अर्थ नहीं है। प्रारम्भ में "किसने इच्छाको" इत्यादि वाक्य मन प्रभृति को जिज्ञास्य रूपसे उपस्थित करके "श्रोत्रका श्रोत्र है" इत्यादि वाक्यमें जिज्ञास्यका लक्षण कहा है, और बताया गया है कि यदि जीव श्रोत्रादि भावका त्याग कर दे तो मोक्ष को प्राप्त होता हैं, उक्त लक्षणयुक्त देव नेत्रादिसे प्राप्य नहीं है, इसलिये उसका आदेश नहीं कर सकते, ऐसा कह कर पूर्वोक्त मोक्षके अभावमें हेतुकी अपेक्षा से 'वह ब्रह्म ही कारण है' इस बातका कार्यद्वारा परिचय कराते हुए कहते हैं कि "जो वाणी से प्राप्य नहीं हैं" इत्यादि। इसका अर्थ यह होता है—

"जो वाणीसे अगम्य है, जो वाणी को प्रेरणा करता है विदित और अविदितसे विलक्षण है वही ब्रह्म है, ऐसा तू जान, यह वैसा नहीं है, म[illegible] आदिको प्रेरणा करते हुए भी विदित और अविदित से विलक्षण नहीं है मन आदिको प्रेरणा करने पर भी ब्रह्म ज्ञाताज्ञातविलक्षण है" वह किस प्रका[illegible] जाना जाता है उसका प्रकार भी वहां कहा है- "जो यह-श्रुति प्रसिद्ध-ब्रह्म है-जिसको वैदिक लोग उपासना करते है वही ब्रह्म है।" इससे ज्ञात होता है कि आप जिस श्रुतिको पूर्वपक्षमें उपस्थित करते हैं उसी श्रुतिसे सदसद्विलक्षण ब्रह्म सिद्ध होता है। उसके विषय में लेशमात्र भी शङ्का नहीं रहती। यदि श्रुतिमें उपास्यरूपको अब्रह्म-ब्रह्मभिन्न सिद्ध करके कहा होता "यह जिसकी उपासना करते है-वह ब्रह्म नहीं है" तब तो आपके पक्षका समर्थन हो सकता था पर वैसा न होनेसे आपका शङ्का निर्मूल प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि तलवकार श्रुतिमें जो कहा गया है वह ब्रह्मस्वरूपका परिचय करने के लिये कहा गया है। अतः उपास्य आकारोंको मायिक नहीं कह सकते। आप नृसिंहोत्तरतापिनी उपनिषद् के बलपर भी उपास्य रूपको मायिक सिद्ध नहीं कर सकते, उसका खण्डन हम आगे चलकर

अप्पयदीक्षित के मत का खण्डन करते समय करेंगे ही। दूसरी श्रुतियों से सिद्ध होता है कि उपास्य रूप वास्तविक है, मायिक नहीं है। अतएव व्यास-सूत्रों में ब्रह्मके लौकिक धर्मोंका निषेध करके अलौकिक धर्म प्रतिपादित किये गये हैं। इससे सिद्ध होता है, कि वेद के वाक्यों मे परस्पर विरोध नहीं है, मायावादी ही उसका उलटा अर्थ करते हैं।

भगवान् साकार और निराकार है.

नृसिंह तापिनीय श्रुतिसे मायिकाकारकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसका भी निर्णय हम आगे चलकर–अप्पयदिक्षित के मतका खण्डन करते समय (भ्रान्तशैवनिराकरणवादमें) करेंगे ही। अन्य श्रुतियों से वास्तविक आकार सिद्ध हो जाने पर, प्रतिबिम्बन्यायसे मायिकाकारकी सिद्धि भी हो सकती है। भगवान् अनन्तरूप होनेसे उनका मायिकाकार भी सङ्ग्राह्य है। मायावाद के द्वारा आकारका खण्डन करनेवाले जो अवास्तविक हेतु उपस्थित किये गये हैं उनका खण्डन "विद्वन्मण्डन" में किया गया है। अतः यहां विस्तार करना अनावश्यक है। अत एव श्रुतियों में स्थान स्थान पर ब्रह्मको विरुद्धधर्माश्रय ही कहा है। तदनुसार व्यासजीने भी अपने सूत्रोंमें परमात्माको स्थान स्थानपर उभयलिङ्ग–सधर्मक एवं निर्धर्मक–ही सिद्ध किया है। यह [1]उभयलिङ्ग-पक्ष–स्थितिसे एवं अवच्छेदकभेदसे नहीं है। उभयलिङ्गाधिकरणमें समझाया गया है, कि भगवान सर्वत्र ही सधर्मक एवं निर्धर्मक है। '[3]न भेदात्' इस सूत्रांशसे उपाधियुक्त एवं निरुपाधिक ऐसा भेद स्वीकार करने पर उभयलिङ्ग ब्रह्म हो सकेगा। वह वस्तुतः उभयलिङ्ग नहीं है–ऐसी शङ्का करके 'न प्रत्येकमतद्वचनात्' इस अंशसे तथा अग्रिम[4]सूत्र से "यह वही है जो यह हैं" इस मधुविद्याकी श्रुतिके अनुसार एवं "यहां [6]कुछ भी अनेक (नाना) नहीं है" इस कण्व-शाखाकी श्रुतिसे विरोध प्राप्त होनेपर भेद कहना अशक्य है, इस प्रकार उस-उपाधि-का निरासकर एक ब्रह्म ही उभयलिङ्ग अर्थात् विरुद्धधर्माश्रय है, इस प्रकार विषयका विचारकर "[7]अरूपके जैसा है इत्यादि पांच सूत्रोंसे एक देशी मतसे समाधान करते हैं। वह इस प्रकार है:—

---

१ देखो व्याससूत्र 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' इत्यादि तृतीयाध्याय के द्वितीयपादके ११ वे सूत्र से २२ तक। २ व्या. सू० २।३।११॥ ३ न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात। ४ अपि चैवमेके।३।२।१३॥ ५ अयमेव स योऽयम्। ६ नेह नानास्ति किंचन। ७ अरूपवदेवहि तत्प्रधानत्वात्।

(१) 'अरूपवदेवहि' इस सूत्र से प्रपञ्च--जगत्-ब्रह्मकार्य है, ब्रह्मकारण है, अतः कारणरूप भी सालक्षण्य-सधर्मक-होना चाहिये, किन्तु ब्रह्मप्रकरणमें ब्रह्मके धर्म ही मुख्य होनेके कारण मुख्यब्रह्मसे इतर (गौणब्रह्म) में ब्रह्मधर्मोंका उपचार मानलियाजाय,ऐसा निर्धार कियाजानेपर मुख्यब्रह्म सर्व व्यवहारातीत होजानेसे शास्त्र ही विफल होगा ऐसी शङ्का करके--

(२) द्वितीय[1] सूत्रसे जैसे सूर्यका प्रकाश सूर्यके आधीन है, वैसे ही ब्रह्मके धर्म भी ब्रह्मके आविर्भावके आधीन होने से परब्रह्मके विषयमें शास्त्रका व्यवहार हो सकेगा, अतः शास्त्रविफल न होगा, ऐसा कहकर--

(३) [2]तृतीयसूत्रसे "जैसे सैन्धव बाहर भीतर सब ही रसघन है, वैसे ही वह परब्रह्म भी [3]प्रज्ञानघन है, वह इन महाभूतोंमेंसे ही प्रगट होकर उन्हींमें प्रवेश करता है।" इत्यादि श्रुतिमें प्रज्ञानघनत्वका ही निरूपण होनेसे ब्रह्मके अलौकिक अवयव हैं, ऐसी कल्पना न करनी चाहिये। अलौकिक क्रिया तो है ही। उक्त श्रुतिवाक्यमें धर्ममात्रका अभाव कहा गया है, जिससे क्रिया भी नहीं है, ऐसा कहा जाय। "[4]विज्ञानघन ही इन (पंच) भूतोंसे उठकर उन्हींको अनुप्रविष्ट-लीन-करता है" यह वाक्य वेद निःश्वासा[illegible]यन ब्रह्मकी क्रिया कहता है। इससे ज्ञात होता है, कि भगवान् को हमारे सम[illegible] इन्द्रियें नहीं है, किन्तु वह सर्वाकार होनेके कारण उसमें आकारकी प्रती[illegible] होनी योग्य ही है। "वह [5]सम्पूर्ण प्रज्ञानघन है" यहां सम्पूर्ण (कृत्स्न) पद[illegible] भगवान् के सर्वाकार की प्राप्ति होती है। यदि ऐसा न हो तो कृत्स्नपद ही व्यर्थ हो जायगा। अतः "जैसे [6]सैन्धव सब ही-सब प्रकारसे-देखने में रसघन है" वैसे ही ब्रह्म भी सब तरहसे-जितना दीखता है-अनुभूत होता है-सब ही प्रज्ञानघन है, उसमें कुछ भी कार्यरूपता नहीं है, ऐसा कहकर

(४) "दर्शयति" इस चतुर्थसूत्रसे कार्यके प्रकारों का निषेध एवं मूर्तामूर्तक्षेत्रनिषेधका प्रतिपादन करने वालीं [7]श्रुति और स्मृतियोंसे प्रपञ्चके धर्मोंका निषेध होजानेसे, वे (प्रापञ्चिक) धर्म भगवान्में औपचारिक हैं--

(५) "अतएव चोपमासूर्यकादिवत्" इस पांचवे सूत्रसे उपचाररूपका

---

१ प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्। २ आह च तन्मात्रम्। ३ अरे इदं महद्भूतमनन्तपारं कृत्स्नः प्रज्ञानघनः। ४ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति। ५ कृत्स्नः प्रज्ञानघनः। ६ यथा सैन्धवः सर्वः परिदृश्यमानो रसघनः। ७ नेति नेति और न सत्तन्नासदुच्यते।

निर्णय स्वीकारकरके " वह [1]मच्छरके समान छोटा और हाथीके समान बडा है " इस श्रुतिसे उपमा दी गई है " यदि ऐसा न होता तो "उसके[2] समान कोई नहीं है" इस श्रुतिका विरोध होजाता। समान है और उसके समान नहीं है इस उदाहरणका विरोध जलचन्द्र के दृष्टान्तसे निरस्त होजाता है, अतः उसमें कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार पांचसूत्रोंसे एकदेशी मतका निरूपण करके " अम्बुवद-ग्रहणात् " इस सूत्रसे अस्वच्छत्व और धर्मत्वसे आधाररूप भगवत्प्रतिबिम्बका ग्रहण करनेवाला न होने से, उसको छोडकर "वृद्धिह्रास०" सूत्रसे उन उन पदार्थोंमें अनुप्रवेशके निमित्तकी प्रतीति करानेवाला होने पर भगवद्धर्मत्व है ही ऐसा घृतादिके दृष्टान्तसे सिद्धकर " दर्शनाच्च " इस सूत्रसे ऊखलबन्धनलीलादिमें विरुद्धधर्माश्रय दीख पडता है, इस लिये भगवान् में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। फिर "प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः" इस सूत्रसे सब प्रकार के विरोधका निरास किया है। उक्त सूत्र में इयत्ता का निषेध है न कि धर्मोंका। इयत्ता लौकिक धर्म है। ब्रह्म में अलौकिक[3] धर्म विद्यमान हैं।

जो लोग " अस्थूलादि " वाक्यों का अर्थ निर्विशेष ब्रह्म करते हैं वह भी अनुचित ही है। अस्थूलादि वाक्यों का विचार निर्विशेषका निरास करते समय पहिले ही कर चुके हैं । आप परिणाम वादपर भी दोष नहीं लगा सकते। क्योंकि " आत्मकृतेः परिणामात् " इत्यादि व्यास सूत्रों में उसका समर्थन किया गया है। उसमें सुवर्णादिके समान अविकृतपरिणाम-वाद सिद्ध ही है। ब्रह्म उपनिषत्प्रतिपाद्य होनेके कारण यदि उसमें युक्तियों का विरोध भी हो जाय, तो वह दूषण नहीं है, प्रत्युत भूषण ही है। अन्यथा निर्विषयक ज्ञान भी असिद्ध हो जायगा। ज्ञान सविशेषका होता है निर्वि-

---

१ समो मशकेन समो नागेन। २ न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। ३ यहां ग्रन्थकार अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् इस सूत्रमें कुछ शास्त्रार्थ एवं अविकृत परिणामवादका निरूपण करते हैं। वह सामान्य व्यक्तियों को नीरस प्रतीत होगा। अतः उसका अनुवाद छोड दीया है। पण्डितों के लिये हमने इस शास्त्रार्थका विस्तार नारायणोपनिषद्भाष्यको "किरणावली" नामक टीकामें दिया है।

अनुवादक.

शेषका नहीं। ब्रह्म अनेक रूप हो जाता है, यह ब्रह्मका ऐच्छिक नानात्व भी श्रुतिसिद्ध ही है।

मायाभगवन्निर्मित है।

" हे नारद! यह माया मैंने बनाई है, मायाके कारण मुझे सर्व धर्मयुक्तको, तू (सहसा) देख नहीं सकता । इत्यादि मोक्ष धर्म में विश्वरूप को धारण करनेवाले साक्षात् नारायण का वाक्य है। इस वाक्य में सर्वधर्मयुक्त भगवानको मायाके कारण लौकिक पुरुष देख नहीं सकते। न कि यह स्वयं सर्वात्मक होनेसे, सर्वाकार होनेसे मायिक है। प्रतिबिम्ब पक्षको भी सिद्धान्तमें असङ्गत बताया गया है।

सिद्धान्त।

इस से पूर्णरूपेण सिद्ध होता है कि श्रुतियोंमें वास्तविक ब्रह्मके महात्म्य (महिमा) को ही कहा गया है । और ब्रह्मकी वास्तविक महिमाका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त (उपनिषद्) ब्रह्मपरक हैं। दूसरी विद्याओंका विचार अप्रासङ्गिक होनेके कारण यहां नहीं किया जाता।

उपर्युक्त सब प्रमाणोंसे भली प्रकार सिद्ध होता है कि वेदों में उपाधि रहित ब्रह्म की महिमा का ही वर्णन है।

॥ इति वेदान्ततात्पर्यनिरूपणम् ॥

हिन्दीभाषाभाषी वैष्णवोंको बधाई

एक करोडसे अधिक वैष्णवजनतामें हिन्दीभाषाभाषी वैष्णवों की सङ्ख्या गुर्जरभाषा बोलनेवालोंसे किसी भी प्रकार कम नहीं है, प्रत्युत आधेसे भी अधिक है, तथापि पुष्टिमार्गीय साहित्य प्रायः गुजरातीमें छपता है, इससे हिन्दी भाषा बोलनेवाले वैष्णवोंको स्वधर्मके ज्ञानसे वंचित ही रहना पडता है। सहस्रों वैष्णवोंकी यह शिकायत है। इसलिये हिन्दीमें भी साम्प्रदायिक ग्रन्थोंका सरल हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करनेकी योजना की गई है।

"श्रीसुबोधिनी ग्रन्थमाला कार्यालय" से श्रीहरिरायजी, श्रीपुरुषोत्तमजी आदि प्रतिभाशाली विद्वानोंके ग्रन्थोंका अनुवाद हो रहा है। जिसका यह एक ग्रन्थ पाठकोंके करकमलों में अर्पित है। दूसरा ग्रन्थ, श्रीपुरुषोत्तमजी महाराज विरचित **"वेदान्ततात्पर्यनिरूपण"** शीघ्र ही प्रकाशित होगा। संक्षेपमें शुद्धाद्वैत सिद्धान्तका परिचय इस ग्रन्थके द्वारा हो सकेगा। यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक साहित्यमें उच्च कोटिका है। मूल्य ०-४-०

इसके अतिरिक्त "प्रमेयरत्नार्णव" छपरहा है। और भी कई ग्रन्थ छपनेको तैयार हैं।

"श्रीसुबोधिनीजी" एवं **"अणुभाष्य"** का सरल अनुवाद भी तैयार है। धनकी सहायता प्राप्त होते ही छपेगा। हमने इस मालामें रायल १×८ साईजके १५० पृष्ठकी पुस्तके वार्षिक एक रुपयेमें ही देनेका निश्चय किया है। स्थायी ग्राहकोंको ये सभी पुस्तकें पौने मूल्यमें मिलेंगी। प्रवेशशुल्क चार आने।

दामोदर लक्ष्मीराम जोशी
(व्यवस्थापक)
बडी हवेली:-**जामनगर.** (काठियावाड.)

Printed by Chimanlal Ishwarlal Mehta at the Vasant Ptg. Press Ahmedabad

प्रकाशितपुस्तकानि ।

१	श्रीमद्गोपालपूर्वतापिन्युपद् [गो० श्रीमदनिरुद्धाचार्यप्रणीतब्रह्मामृत-भाष्येण पीयूषलहर्या टीकया च समुपबृंहिता]	१ ४ ०
२	ब्रह्मवादसंग्रहः ... [हिन्दी अनुवाद समेत]	१ ४ ०
३	शुद्धाद्वैतसिद्धान्तमञ्जरी [गो० श्रीमदनिरुद्धाचार्यविरचिता] ...	० ४ ०
४	अवतारवादावली [पण्डितपुरन्दर गो० श्रीपुरुषोत्तमप्रणीता]	२ ० ०
५	सूर्यशतकं सटीकम् (महाकविमयूरविरचितम्)	: मु ब्य ते :
६	પુષ્ટિમાર્ગીયસિદ્ધાન્તશેખર (ગુજરાતી) . . .	० ४ ०
७	શ્રીપુરુષોત્તમજીમહારાજનું જીવનચરિત્ર [ગુજરાતી] . .	० ४ ०
८	" " " [हिन्दी] .	० ६ ०
९	वेदान्ततात्पर्यनिरूपण [हिन्दी अनुवाद] . .	० ४ ०
१०	विवेकधैर्याश्रयनिरूपण " . .	० ४ ०
११	कृष्णाश्रय . . . " . .	० ४ ०
१२	શ્રી સુબોધિનીજીનું ગુજરાતી ભાષાંતર પ્રથમ ભાગ . .	२ ० ०
१३	प्रमेयरत्नार्णव . [हिन्दी अनुवाद] . .	छपता है
१४	तत्त्वार्थ दीपनिबन्धः सप्रकाशः [शास्त्रार्थप्रकरणम्] . .	० ८ ०
१५	श्रीमद्गोपालाष्टपदी सचित्रा	० ४ ०
१६	नयविवेकः . श्रीभवनाथविरचितः . . .	मुब्यते
१७	त्रिपादनीतिनयनम् श्रीमुरारिमिश्रविरचितम् . . .	"

दामोदर लक्ष्मीराम जोषी.
व्यवस्थापक—श्रीसुबोधिनी ग्रन्थमाला कार्यालय,
मोटी हवेली : : जामनगर.